प्रिय युवा बंधुओं और बहनों,

विशाल भारत प्राकृतिक विविधताओं से भरा पड़ा है। एक ही समय अपने देश में उष्ण, शीत व मध्यम जलवायु विद्यमान रहती है। विभिन्न अंचलों में बहुविध प्रकार की वन-सम्पदा उपलब्ध है। अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों से भारत का भूगर्भ सम्पन्न है। खाद्यान्नों एवं फलों-फूलों के कई प्रकारों का देश में उत्पादन होता है। रहन-सहन में और रूप-रंग में भी बहुत अंतर है। बोलियों और लिपियों की विविधताएं भारत की अपनी ही विशेषता है।

इतनी विविधताओं के बावजूद हजारों सालों से देशवासियों में एकात्मता की अखण्ड परंपरा चली आ रही है। यह हमारे पूर्वजों की कठोर साधना का अनोखा प्रतिफल है। कुंभ मेलों, चारों धामों की यात्राओं और अमरनाथ के दर्शन जैसे असंख्य देशव्यापी श्रद्धा-केन्द्रों का जाल सामाजिक एकात्मता का प्रतीक है।

काल के प्रबल प्रवाह, नेतृत्व की ढलती क्षमता, अनेक विदेशी आक्रमणों व गुलामी के कारण इनमें अंतर्निहित एकात्मता की भावना पर लगातार प्रहार होते रहे हैं। चराचर में आत्म-तत्व के बोध की जीवन-दृष्टि भी कमजोर पड़ती गई है। फलस्वरूप, समाज में विघटन, अशांति, अनाचार और आपसी कलह बढ़ता जा रहा है।

विकसित कहे जाने वाले सम्पन्न देशों में आत्म-तत्व का बोध दुर्लभ है। उन्होंने उपभोग पूर्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है। उपभोगवादी वृत्ति व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं में ही समाधान मानती है। वह मानव की प्राकृतिक विशेषता अर्थात् मानवीयता को उभरने नहीं देती।

उन देशों में कौटुंबिक जीवन में आत्म-तत्व की भावना पाना कठिन है। पति-पत्नी के आजीवन साथ-साथ रहने की वहां अवधारणा ही नहीं है। ऐसी स्थिति में वहां की नई पीढ़ी में व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि ही पनपना स्वाभाविक है।

उन देशों के उपभोग प्रधान जीवन का प्रभाव स्वतंत्र भारत में तेजी से बढ़ रहा है। उससे पं. दीनदयाल जी चिंतित हुए थे। उपभोग का प्रबंध करना शरीरधारी मानव की प्राकृतिक आवश्यकता है। किन्तु मानव का जन्म केवल उपभोग पूर्ति के लिए नहीं हुआ है। वह जन्म से ही संवेदनशील होता है। अन्यों के सुख-दु:ख में वह सहभागी होता है। दुखियों का दु:ख दूर करने पर उसे अनोखा सुख मिलता है। इस दिशा में गतिशील होने में ही मानव जीवन की सार्थकता निहित है। इस संवेदना के अभाव में वह पशु-तुल्य बन जाता है।

लेकिन दुर्भाग्यवश, अपना देश भी उपभोग प्रधान देशों के संवेदनहीन मार्ग पर चल पड़ा है। इससे भारत, भारत न रहकर, उपभोग-प्रवण देशों का अनुगामी बन रहा है। इससे, विश्व से मानवीयता ही मिटने का खतरा खड़ा हुआ है।

इस खतरे को भांपकर स्व. दीनदयाल जी ने ''एकात्म मानव दर्शन'' का उपाय प्रस्तुत किया था। उन्होंने इस दर्शन को देश के अनेक प्रतिष्ठित विचारकों के सम्मुख रखा था। उनसे विस्तृत विचार-विनिमय किया था। स्व. श्री राजगोपालाचारी ने भी इसे सराहा था। प.पू. गुरू जी ने इसे ''सामाजिक संजीवनी'' कहा था। भारतीय जनसंघ के विजयवाड़ा अधिवेशन में इसे सर्वसम्मति से स्वीकृत किया था। किन्तु दीनदयाल जी की हत्या के बाद उनके ''एकात्म मानव दर्शन'' को भी सबने तिलांजलि दे डाली है।

''एकात्म मानव दर्शन'' भारतीय जीवन दर्शन का ही नया नामकरण माना जा सकता है। भारतीय जीवन दर्शन मानव-मानव में भेद नहीं करता। अन्यथा चराचर में आत्म-तत्व अनुभव करने की संभावना ही नहीं होती। वह हर एक नागरिक को मानव मानकर ही व्यवहार करता है। किसी से भी उसकी उपासना पद्धति, भाषा, क्षेत्रीयता, जातियता या ऊंच-नीचता के आधार पर भेदभाव को अमानवीय मानता है।

भारतीय जीवन दर्शन की अपनी ही आर्थिक जीवन-दृष्टि है। अन्य देशों में व्यक्तिगत समृद्धि के लिए ही काम करने की प्रेरणा मिलती है। व्यक्तिगत समृद्धि के लिए ही वहां व्यवसायिक-संगठन खड़े होते हैं।

किन्तु भारत में बिल्कुल अलग ही आर्थिक जीवन-दृष्टि रही है। यहां जातियां व्यवसाय के आधार पर अवश्य संगठित हुई थी। हर एक जाति का लक्ष्य संपूर्ण समाज की एक न एक आवश्यकता पूर्ण करना था। व्यक्तिगत समृद्धि के लिए जातियों का गठन नहीं हुआ था। हर व्यक्ति संपूर्ण समाज को अपना व्यापक परिवार मानकर उसे सुखी और समृद्ध बनाने के लिए अपना जीवन लगाता था। उसी में उसका कुटुंब भी पला करता था। संत कबीर का जीवन उसी का एक नमूना था। भारत में ऐसे संत लगभग हर जाति में हुए हैं। इस विशेषता के कारण ही भारत में 'वर्ग-संघर्ष' की कल्पना उद्‌भव ही नहीं हुई थी। 'वर्ग-संघर्ष' समाज में विद्वेष, विघटन और कलह पैदा करता है। वह एकात्मता के पूर्णत: विपरीत है। इस वस्तुस्थिति का बोध न होने के कारण जो व्यक्ति समाज में एकात्मता का प्रतिपादन करता है, वही व्यक्ति 'वर्ग-संघर्ष' मूलक यूनियन बाजी की भी वकालत करता है। ऐसे परस्पर विरोधी कार्य 'भारतीयता' के नाम पर स्वतंत्र भारत में चलाए जा रहे हैं।

भारत की औद्योगिक नीति एकात्मता के आधार पर चला करती थी। उद्योग के तीन अंग हैं - पूंजी, श्रम और प्रबंध। उद्योग की सफलता इन तीनों अंगों की परस्पर पूरकता पर निर्भर करती है। उद्योग का लक्ष्य समाज की आवश्यकता पूर्ण करना था। बचत पर तीनों अंगों का समान अधिकार होता था। उद्योगों की इकाई परिवार होती थी। परिणामस्वरूप, समाज में न विषमता की भीषणता उपस्थित होती थी, न बेकारी की संभावना। स्वतंत्र भारत को उसी आधार पर औद्योगिक नीति विकसित करनी चाहिए थी।